

डॉ सुशील कुमार

जेएनयू, नई दिल्ली

ईमेल skkumarsushil01@gmail.com

## शोधसार

हिन्दी साहित्य में किसान जीवन का कितना यथार्थपरक वर्णन उपलब्ध हैं, यह जानने के लिए पहले यह समझना आवश्यक है कि किसान जीवन के यथार्थ का वास्तविक अर्थ क्या हैं? बदलते समय के बदलते परिदृश्यों में इसमें आने वाले परिवर्तन को समझने के लिए हमें विषय की ऐतिहासिकता में जाना होगा। किसान जीवन का यथार्थ मात्र एक सैद्धांतिक प्रश्न भर नहीं है बल्कि किसी राष्ट्र के विकास प्रक्रिया को समझ के लिहाज से एक व्यावहारिक प्रश्न है। इस शोध पत्र में समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक उपागम के माध्यम से सैद्धांतिक अवधारणाओं को स्पष्ट किया गया है।

प्राथमिक स्तर पर भारत के संदर्भ में किसान को एक वर्ग के रूप में समझने से पहले यह जरूरी है की हम यह स्पष्ट कर ले कि एक अवधारणा के रूप में किसान की क्या प्रकृति रही है? विद्वानों ने किस तरह से इसे परिभाषित, व्याख्यायित, विभाजित या वर्गीकृत किया है। इन वर्गों के आधार पर उनके यथार्थ की प्रकृति भी अलग होगी? किसान की श्रेणियों का विभाजन किस आधार पर किया जाता है? क्या किसान जीवन का यथार्थ कोई सार्वभौमिक यथार्थ है या फिर यह मूलतः किसी खास श्रेणी के किसान का यथार्थ है।

किसानों की श्रेणियों के विभाजन का मापदंड जमीन के मालिकाना हक तथा उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के आधार पर स्थापित किया गया है। प्राक्क-ऐतिहासिक काल में राज्य के विकास के साथ, राजवंश और दास प्रथा के समय में भी जमीन के मालिकाना हक और उत्पादन के साधनों के विकास और स्वामित्व के आधार पर ही किसान की श्रेणी को स्पष्ट किया गया है।

## परिचय

किसान जीवन का वैचारिक यथार्थ परम्परावादी होता है। किसी भी समाज की वैचारिकी और सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना उस समाज की आर्थिक संरचना से मूल रूप से जुड़ी होती है। आर्थिक संरचना में होने वाले परिवर्तन राजनीतिक हस्तक्षेप से प्रमुख रूप से प्रभावित होते आये हैं।

कृषि परंपरा बहुत पुरानी रही है। आदिम समाज के विकास के दौरान उत्पादक शक्तियों के विकास के साथ श्रम का सामाजिक विभाजन पैदा हुआ। जिसमे पशुपालन का कृषि से अलग होना, दस्तकारी गतिविधियों का कृषि से अलग होना महत्वपूर्ण घटना थी। यह मानव इतिहास के बड़े सामाजिक श्रम विभाजन में से थे। कृषि, पशुपालन और दस्तकारी गतिविधियों के अलग-अलग विभाजन से उत्पादन का उद्देश्य आवश्यकता पूर्ति और उपभोग के साथ-साथ विनिमय के उद्देश्य से होने लगा।



उत्पादन शक्तियों के निरंतर विकास ने उत्पादन को आजीविका के बुनियादी स्तर से ऊपर उठा कर 'अतिरिक्त' उत्पादन होने लगा। श्रम के दो बड़े विभाजनों ने श्रम की उत्पादकता बढ़ाई और कृषि, पशुपालन तथा दस्तकारी गतिविधियों के विकास को प्रोत्साहित किया। इससे अतिरिक्त उत्पादन और सामाजिक सम्पदा में वृद्धि हुई। ऐसी परिस्थितियों में कुछ लोगों द्वारा दूसरे लोगों के श्रम के उत्पादों को हड़पने की संभावना भी पैदा हुई। दूसरी तरफ सुरक्षा की दृष्टि से विनिमय के विस्तार के साथ गोत्र के सरदार द्वारा कम्यून की संपत्ति को धीरे-धीरे अपनी निजी संपत्ति में बदल लेने की संभावना और प्रवृत्ति भी उत्पन्न हुई। आदिम समाज के अंतिम दौर में लोहे की खोज मानव समाज की एक उच्चतर अवस्था में प्रगति का प्रतीक थी। पर इस खोज के साथ ही आदिम समाज के पतन की उद्घोषणा भी कर दी।

उत्पादन सामूहिक मामले से निजी मामले में बदल गया। इसी तरह भूमि जो पहले सामूहिक स्वामित्व में होती थी, को व्यक्तिगत गृहस्थियों को कृषि के लिए सौंपी जाती थी, वह भी निजी संपत्ति में परिवर्तित होने लगी। इस तरह निजी स्वामित्व के अस्तित्व में आया और आदिम कम्यून छिन्न-भिन्न हो गया।

निजी स्वामित्व के उद्भव के साथ परिवारों के बीच संपत्ति के बंटवारे में असमानता पैदा हुई। उत्पादक शक्तियों के विकास के साथ दासों के श्रम का इस्तेमाल संभव और लाभदायक हो गया। इसके परिणामस्वरूप युद्धबंदियों को मार डालने की बजाय दास बनाया जाने लगा। बाद में गोत्र के कुछ गरीब लोग भी धनी परिवारों के दास बन गए। पूंजी के आसमान, निजी वितरण के चलते कमजोर, गरीब लोगों के शोषण की शुरुआत हुई।

उत्पादन के विकास और विनिमय के विस्तार के साथ तीसरा बड़ा श्रम विभाजन घटित हुआ। ऐसे व्यापारी सामने आये जो विशेष रूप से माल विनिमय ही करते थे। माल विनिमय के साथ मुद्रा अस्तित्व में आयी। मुद्रा के जन्म के साथ धनी परिवार सूदखोरी करने लगे और संपत्ति के संकेन्द्रण तथा असमान वितरण की प्रक्रिया तेज हो गयी। दूसरी तरफ, मेहनतकशों की भारी आबादी गरीबी और कंगाली के कारण दास बनने पर मजबूर हो गयी और दासों की संख्या तेजी से बढ़ी। इस तरह समाज दो वर्गों में बंट गया: दास-स्वामी और दास। ये दो विरोधी वर्ग मानव इतिहास में पहली बार सामने आये। वर्गों की उत्पत्ति के साथ पुरानी गोत्र परिषद समाज के सार्वजनिक-सेवक से इसके मालिक में तब्दील हो गये और गोत्र परिषद् दास-स्वामियों द्वारा दासों के उत्पीड़न का एक उपकरण बन गयी। उसी समय 'राज्य'- एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के उत्पीड़न के तंत्र का जन्म हुआ। उस समय से लेकर अब तक "समस्त सामाजिक इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास रहा है।" सामंतीयुग पूर्व जमीन का मालिक कबीला या व्यक्ति होता था। कबीलाई समाज घुमंतू होता था। वह जानवरों को पकड़-पकड़ कर पालतू बनाता था। यहाँ जिस व्यक्ति या कबीले ने जितनी जमीन साफ़ करके कब्जा ली उतनी जमीन उसकी हो गयी।

जमीन के अधिकार को लेकर विद्वानों में बहुत बहस है। भारत के सन्दर्भ में भी एक जैसा नियम नहीं था। "भारत बहुत बड़ा देश है, जिसमें प्राकृतिक परिवेश, भाषा और ऐतिहासिक परिघटनाओं के प्रवाह के मामले में प्रचुर विविधता है, इसलिए प्राचीन काल में न तो उत्पादन के साधनों की दृष्टि से और न विकास के विभिन्न चरणों के नज़रिए से इस देश में समग्र समानता की कल्पना की जा सकती है।" भारत में वैदिक काल में कुल (क्लैन) की सहमति के बिना



किसी भी ज़मीन का हस्तांतरण नहीं किया जा सकता था और भू-हस्तांतरण का लगभग कोई प्रसंग उठता नहीं था। पूरी दुनिया में कहीं कहीं भूदास कृषक बनाये जाने लगे थे। उन्हें गुलाम बनाकर काम करवाया जाता था। समाज धीरे धीरे दो वर्गों में बंट गया: स्वामी और दास।

भारत के संदर्भ में दास व्यवस्था व वर्ण व्यवस्था अंतर्संबंधित रही है। “भारत में वंश समाज ने जाति व्यवस्था को रूप और आकार दिया। जब स्तरीकरण के विभिन्न रूप उभरने लगे तो वर्ण व्यवस्था के माध्यम से उनको एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न होता है। बाद में उत्पादन के लिए विभिन्न व्यवसायों में लगे समूहों-शूद्रों को चतुर्थ श्रेणी के रूप में उनमें शामिल कर लिया जाता है। जैमिनी के ‘मीमांसा सूत्र’ में भूमि पर सामुदायिक अधिकार के सिद्धांत की पुष्टि होती है। इस ग्रन्थ को चौथी से तीसरी सदी ई.पू. के बीच की कृति मान सकते हैं।

दास युग की समाप्ति और सामंत युग के प्रारंभ के साथ और उसके बाद भी कृषि व्यवस्था में और कृषि के राज्य के साथ संबंधों में गुणात्मक परिवर्तन आया है। यद्यपि इस परिवर्तन के बावजूद किसानों के शासन व्यवस्था और राज्य के साथ सम्बन्ध मूलतः नकारात्मक ही रहे हैं। अलग अलग राजवंशों के काल में भूमि के स्वामित्व और कर के सम्बन्ध में किये जाने वाले प्रावधानों से इस बात की पुष्टि होती है।

सामंती व्यवस्था दासयुगीन व्यवस्था से ज्यादा प्रगतिशील थी जहाँ समाज और कृषि ने थोड़ी बहुत उन्नति की। राज्य पुरोहितों, सैनिकों, सरदारों, प्रशासकों आदि के भरण-पोषण के लिए उन्हें सीधे राजस्व आवंटित करने लग गया। ज़मीन पर लगान वसूलने की पद्धति शुरू हो गयी थी।

उत्पादन संबंधों के तहत खासकर किसानों की बड़ी आबादी क्रूर शोषण-उत्पीड़न का शिकार थी। इस शोषण से किसानों और सामंतों के बीच अंतर्विरोध शुरू हो गया। ये किसान वर्ग संघर्ष, किसान विद्रोह और किसान युद्ध ही ऐतिहासिक विकास की वास्तविक प्रेरक शक्ति थे। हर बड़े किसान विद्रोह और किसान युद्ध ने तत्कालीन सामंती शासन पर आघात किये और इस तरह उन्होंने सामाजिक उत्पादक शक्तियों के विकास को कुछ हद तक आगे बढ़ाया।

### भूमि स्वामित्व अधिकार एवं कृषि पद्धति

भूमि के स्वामित्व को लेकर अलग-अलग युग में अलग-अलग मान्यताएँ हैं। भूमि के स्वामित्व को लेकर इतिहासकार काशीप्रसाद जायसवाल स्वामित्व को सामंतवादी प्रवृत्ति मानते हैं। जिस पर राजा सारी ज़मीन का मालिक होता है प्राचीन भारत में भूमि पर राजकीय स्वामित्व के सिद्धांत को सामंतवादी विधान का अंग मानते हैं।

“गुप्त कालीन और गुप्तोत्तर काल में धर्मशास्त्रों में भू-संपत्ति के विभाजन की स्पष्ट व्यवस्था है। मिताक्षरा, मदनपरिजात में यह तर्क दिया गया कि ब्राह्मण गोत्र के खेतों के अविभाज्य होने का नियम ब्राह्मण से उत्पन्न क्षत्रिय तथा अन्य पुत्रों पर ही लागू होता है।”<sup>3</sup> “गुप्तकाल में कृषि क्षेत्र का काफी विस्तार हुआ। इसका प्रमाण इस युग में पिछड़े इलाके में ब्राह्मणों को दिए गए भूमिदान से मिलता है। इस काल में जमीन पर निजी अधिकारों का विकास स्पष्ट रूप से हुआ। धार्मिक प्रयोजनों के लिए भूमि की खरीद बिक्री के प्रथम पुरालेखीय साक्ष्य हमें इसी काल में उत्तर बंगाल से प्राप्त



होते हैं।”<sup>4</sup> धीरे-धीरे भू संपत्ति का विभाजन लगभग पूरे समाज में होने लगा था। यह प्रथा पहले पुरोहित, ब्राह्मण और क्षत्रिय राजा के यहाँ शुरू हुई थी। आज भी आप ज़मीन के मालिक तो रहते हो कानूनी रूप में पर एक सामाजिक नैतिक दवाब रहता है कि ज़मीन कब कहाँ कैसे बेचे।

इस तरह भूमि जिसे पुराणों और शास्त्रों में प्राकृतिक संपदा मान कर इसे सार्वजनिक उपभोग के प्रावधान थे, को राजा ने इसके संरक्षणकर्ता के रूप में अपनी निजी स्वामित्व का विषय बना लिया। इसके उपभोग, संरक्षण, स्वामित्व और लेन-देन के अधिकार भी राजा में ही केन्द्रित हो गए। जिसका वर्तमान, आधुनिक स्वरूप ‘राज्य’ द्वारा प्राकृतिक संसाधनों पर एकाधिकार के रूप में दिखता है। अलग अलग शासन काल में भले ही कृषि व्यवस्था अपने चरम पर हो लेकिन किसानों के भूमि सम्बन्धी अधिकार सदैव ही अनिश्चित रहे हैं। इस व्यवस्था में राजा सबसे बड़ा भूमिपति था और बाकी लोग उसके अधीनस्थ भूमिपति थे। इस व्यवस्था में कई प्रकार के श्रेणीबद्ध भू-तत्व मिलते हैं जिसमें राजा, स्वामी और कृषक के अधिकार शामिल थे। एक ही खेत में विभिन्न पक्षों के अपने अलग-अलग हक हुआ करते थे। इसका पता अशरफपुर के ताम्रपट अनुदान से चलता है जो सातवीं-आठवीं शताब्दी का है।

इससे स्पष्ट होता है कि गुप्तकाल में किसान और राजकीय संबंध ज्यादा स्पष्ट हो गए थे। इस सम्बन्ध में किसानों का शोषण राजा, सामंतों द्वारा होता था और उनसे खुलेआम बेगारी ली जाती थी। इतिहासकार डी एन झा किसानों के हालातों को कुछ इस तरह व्यक्त करते हैं, गुप्त काल से ही बेगार-प्रथा (विष्टि) और कई प्रकार की उगाहियों एवं लगानों से लगे रहने के कारण भी किसानों की स्थिति जर्जर होती गयी। मौर्यकाल में दासों और भाड़े के मजदूरों से बेगार लिया जाता था। इस काम की देखरेख के लिए एक वेतन भोगी अधिकारों को नियुक्त किया जाता था। लेकिन गुप्त काल में अन्य वर्णों के लोगों से भी हर तरह का काम लिया जाने लगा।

ग्रामीण लोगों के भूमि-विषयक तथा सामुदायिक आधारित अधिकारों का हास और उसके परिणाम स्वरूप भूमि पर निजी अधिकारों का विकास, शिल्प-उद्योग तथा व्यापार का सामंतीकरण और मुद्रा का अभाव; ये सब इस कामकाज की अर्थव्यवस्था की नई विशेषताएं जान पड़ते हैं। इनमें से कुछ को विशेषकर भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व के विकास को अच्छी तरह से समझने के लिए पूर्व-मध्यकालीन में दिए गए अनुदानों का कानूनी आधार रहा है।

### मध्यकाल में कृषि व्यवस्था और भूमि संबंधों की स्थिति

सामंतवाद के बाद मध्यकाल, सल्तनतकाल और मुगलकाल में भूमि व्यवस्था में कई संस्थागत परिवर्तन किये गए। भारत में मध्यकाल, सल्तनतकाल और मुगलकाल का कृषि की दृष्टि से काफी महत्व है। कृषि व्यवस्था में प्रयुक्त होने वाले फारसी शब्दों का चलन (खसरा-खतौनी, रकबा आदि) फारसी भाषा के शब्द हैं जिनका आज भी प्रयोग होता है। प्रशासन व्यवस्था के विकास के साथ खेती के सम्बन्ध इस दौर में जटिल होते गए।



मध्यकाल के आरंभ में राजपूताना के भू-भाग में गंगा यमुना का दोआब क्षेत्र के बीच की जमीन के उपजाऊ होने के प्रमाण और किसानों की कुशलता की तारीफ अनेक अरब यात्रियों के हवाले से मिलती हैं। भारतीय कृषि की फलती-फूलती रही मिट्टी की उर्वरता और भारतीय किसान की कुशलता की पुष्टि अनेक अरब यात्रियों ने की।<sup>5</sup> ऐसा लगता है कि इस काल में कृषि फल-फूल रही है पर किसान पर तमाम नए-नए कर लगाए जा रहे थे उनसे बेगारी लेने की नई प्रथा भी आरंभ हो रही थी। सल्तनत काल में किसानों की स्थिति का उल्लेख करते हुए सतीश चन्द्र कहते हैं कि, “पहले की तरह आबादी में विशाल बहुमत किसानों का था। वे कड़ी मेहनत करते और मुश्किल से दो जून की रोटी खाते थे। देश के विभिन्न भागों में अकाल और युद्ध किसान की मुश्किल बढ़ाते रहते थे। सभी किसान कठिनाई से गुजारा करने वालों में नहीं थे। गांव के दस्तकारों और बटाईदारों को छोड़कर गांव में एक अधिक समृद्ध किसान भी था जो अपनी जमीनों का मालिक था। वह गांव के मूलनिवासी माने जाते थे और पंचायतों पर हावी होते थे। गांव के मुखिया (मुकद्दम) और छोटे भूस्वामी का जीवन स्तर भी औरों से ऊंचा था।<sup>6</sup> शासन काल और व्यवस्था में परिवर्तन के बावजूद कृषि के तौर तरीके कमोबेश पूर्ववत् ही थे। इसका कारण बताते हुए इतिहासकार इरफ़ान हबीब कहते हैं कि, “दिल्ली सल्तनत के साथ दक्षिण से महत्वपूर्ण राज्य विजयनगर की अर्थव्यवस्था में कृषि का अहम योगदान था। पर कृषि में दिल्ली सल्तनत से ज्यादा कुछ परिवर्तन नहीं दिखाई पड़ता है। अधिकांशतः इसका कारण यह है कि इस काल में खेती के तौर-तरीके में कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं आया।<sup>7</sup>”

इतिहासकार सतीशचन्द्र, इतिहासकार इरफ़ान हबीब की इस बात की पुष्टि करते हैं। वे बताते हैं कि, “किसान की हालत इस काल में भी खराब ही रहती है। जिस किसान के पास अपने हल-बैल नहीं होते थे, वह प्रायः जमींदारों या ऊंची जातियों की जमीन जोतता-बोता था और मुश्किल से निर्वाह कर पाता था। भूमिहीन किसान और मजदूर अक्सर उस श्रेणी के होते थे, जिसे ‘अछूत’ या कमीन कहा जाता था। कभी अकाल पड़ता और अकाल आम थे, तो सबसे अधिक कष्ट किसानों की इसी श्रेणी को और ग्रामीण दस्तकारों को उठाना पड़ता था। जो किसान अपनी जोती हुई जमीन के स्वामी थे वे खुदकाशत कहलाते थे। खुदकाशत जो कि गांव के मूल निवासी होने का दावा करते थे अक्सर एक या अधिक प्रभुत्वशाली जातियों के होते थे। इन जातियों का ना सिर्फ ग्रामीण समाज पर वर्चस्व था, वे गरीब या कमजोर वर्ग का भी शोषण करते थे। फिर अक्सर जमींदारों द्वारा उनका भी शोषण किया जाता था।<sup>8</sup>”

मुगलकाल में खाने की जरूरत के अलावा खेती मुनाफे और फायदे के लिए होने लगी थी। अन्य शब्दों में कह सकते हैं कि व्यापार के लिए खेती होने लगी थी। उन फसलों का भी जिनका उपयोग वस्तु निर्माण के लिए किया जाता था जैसे कपास, नील, चाय, गन्ना, तिलहन आदि। नकदी फसल का आरंभ भी इसी काल में शुरू हुआ। लाभ होने की स्थिति में नई-नई फसलें भी पैदा की जाती थी जिनमें नकदी फसलें प्रमुख थी इन फसलों में लगान की दर भी ज्यादा रहती थी। इन फसलों पर अधिक मालगुजारी लगती थी और वह नगद मुद्रा ली जाती थी। इसलिए अक्सर इन्हें नकदी फसलें या उम्दा फसल कहा जाता था।

### औपनिवेशिक शासनकाल में कृषि व्यवस्था



उपनिवेशकाल के दौर में अंग्रेजी शासन ने कृषि व्यवस्था में और परिवर्तन किये। भू-व्यवस्था और कानूनों के माध्यम से कृषि व्यवस्था में कई बदलाव किये गए। यह सभी बदलाव राज्य को लाभ पहुंचाने के उद्देश्य से किये गए। फिर चाहे वह रैयतवाड़ी, महलवाड़ी और जमींदारी प्रथा हो या फिर वन संरक्षण कानून हो। इस दौर में ब्रिटिश शासन, देशी जमींदार, साहूकार महाजन और छोटे, भूमिहीन किसान के अंतर्विरोध काफी तेज हो गए। नौकरशाही व्यवस्था ने किसानों के शोषण के नए स्तर विकसित कर दिए। इसीलिए इस काल में कृषि व्यवस्था में परिवर्तन के साथ किसानों का शोषण और प्रतिरोध के तत्व भी मिलते हैं।

किसान जीवन और कृषि व्यवस्था की वर्तमान स्थिति को समझने के लिए इतिहास में शासन-अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध को खंगालने से कृषि व्यवस्था के संस्थागत ढांचे को समझने में मददगार हैं। मध्यकाल से लेकर आधुनिक इतिहास में व्यवस्थागत तमाम परिवर्तन किये गए जिनकी झलक आज भी हमें अलग-अलग रूप में देखने को मिलती हैं। बात चाहे लगान व्यवस्था की हो, या भूमि सुधार अधिनियम या नकदी फसल पैदा करने का चलन, मुचलका लिखवाने का प्रावधान हो या फिर बेदखली का खतरा; ये सारे प्रावधान अपने शासनकाल के उद्देश्यों और राजनीतिक संबंधों के ताने-बाने की ही देन हैं।

अलग-अलग समय और क्षेत्रों की पृष्ठभूमि में लिखे गए उपन्यासों से इन व्यवस्थाओं के स्थानीय स्वरूप और स्थानीय आमजन या गरीब-छोटे किसानों पर होने वाले गहरे असर का वर्णन मिलता है। इन वृहद् व्यवस्थाओं के जटिल अंतर्संबंधों का गहरा और सूक्ष्म रूप हमें किसान जीवन की कहानी से पता चलता है। इसीलिए जरूरी है कि इन संस्थागत व्यवस्थाओं के विकास क्रम और नीतिगत प्रक्रियाओं में आने वाले परिवर्तनों का आलोचनात्मक मूल्यांकन किया जाये।

अंग्रेजों के भारत में पैर जमाने के साथ ही नौकरशाही व्यवस्था के विकास के बीज पड़ गए थे। नौकरशाही व्यवस्था के विकास के साथ ही किसानों के शोषण के स्तरों में और भी वृद्धि हो गयी। नौकरशाह किसानों का उत्पीड़न करते थे और मौके-बेमौके पर उनसे बेगार भी लेते थे। छोटी-मोटी वसूलियों को परंपरा का ओहदा मिलने से आगे चलकर वसूलियों की इसी रस्म के दायरे और तीव्रता का विस्तार हुआ। स्थायी बंदोबस्त में भू-स्वामित्व का अधिकार अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी के पास रहता था। पर पट्टा जमींदारों को देती थी और जमीनदार किसानों को। यह पट्टा तब तक मान्य रहता था जब तक कि किसान लगान देता रहे। वही हाल जमींदारों का भी था।

इस बंदोबस्ती व्यवस्था से किसान और जमींदार के सम्बन्ध काफी जटिल हो गए। स्वयं जमींदार भी इस व्यवस्था के प्रत्यक्ष लाभार्थी नहीं थे लेकिन उन्हें किसानों की समस्याओं से कोई लेना देना भी नहीं था। जिन जमींदारों के साथ बंदोबस्त हुई उन्हें जमीन के ऊपर स्वामित्व के अधिकार दिये गये। यद्यपि पट्टा विनियम का उद्देश्य इन अधिकारों को तब तक बनाए रखना था जब तक वह अपने लगान अदा करते रहे। अंग्रेजी शासन के जमींदारी प्रथा में हस्तक्षेप से जमींदारों को भी नुकसान हुआ था पर अंततः सारा बोझ किसानों पर ही आ पड़ा था। “जमींदारों को एक निश्चित तारीख तक तयशुदा मालगुजारी देनी पड़ती थी। तथाकथित ‘सूर्यास्त का नियम’ और न दे पाने पर जमींदारी बिक जाती थी। अकसर उनके लिए लगान वसूल करना भी कठिन हो जाता था, क्योंकि मांगें बहुत भारी थी, और प्रकृति



का कोई भरोसा नहीं था। फलस्वरूप जमींदारियाँ अकसर बिकती रहती थी; 1794 से 1807 के बीच बंगाल और बिहार में लगभग 41% मालगुजारी देने वाली जमीने नीलाम में बिकीं; उड़ीसा में 1804 और 1818 के बीच नीलामी के कारण 51.1 प्रतिशत मूल जमींदार तबाह हो गए।<sup>9</sup> स्थायी बंदोबस्त ने मूलतः अंग्रेजी साम्राज्य को ही फायदा पहुंचाया था। अंग्रेजों को कृषि और जमीन से ज्यादा से ज्यादा दोहन करने का मौका मिला था। जमींदार तो उनके हाथ की कठपुतली ही साबित हुए थे। कंपनी इस प्रकार अपने राजस्व में बेहताशा बढ़ोतरी करती है, “राजस्व में कंपनी में हिस्सा 89% तय किया गया। साथ ही लगान वसूली के लिए जमींदारों को खुली छूट दी गई। जॉन शोर द्वारा किए गए आंकड़े के अनुसार सन 1762-63 में बंगाल की कुल राजस्व वसूली 64.6 लाख रुपए थी जो 1765-66 में 147 लाख रुपए तथा 1790-91 में 268 लाख रुपए हो गई। कंपनी की बढ़ती मांगों को पूरा करने के लिए जमींदारों ने मनमाना लगान वसूला। वर्षों से चली आ रही कृषि व्यवस्था तहस-नहस हो गयी। यही नहीं कंपनी द्वारा अपने व्यापारिक हितों के कारण कुछ खास नकदी फसलों की जबरन खेती से खाद्यानों की उपज पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। इसकी परिणति बंगाल में 1770 में पड़े भयानक अकाल के रूप में हुई। जिसमें दस लाख लोग और हजारों जानवर मारे गए।”

इसके बाद दूसरा बड़ा फायदा जमींदारों को हुआ था। पर अंग्रेजी व्यवस्था जमींदारों को भी बेदखल कर सकती थी और अंग्रेज इन्हें मालगुजारी न देने पर बेदखल करते थे तो यह अपने आसामी को समय पर पूरा लगान नहीं चुका पाने से बेदखल कर देते थे। इस वजह से सबसे ज्यादा भार किसान ही झेलता था। अंततः किसान ही बुरे हालत में था। “स्थायी बंदोबस्त ने जमीन का मालिकाना हक जमींदारों को दिया जिनको पहले केवल मालगुजारी वसूल करने का अधिकार था। इसलिए इस बंदोबस्त में जो लोग घाटे में रहे थे वह किसान जो अब जमींदार के रहमों-करम पर निर्भर हो गए। बाद में 1799 और 1872 के कानूनों के (रेग्युलेशन) ने जमींदारों को अधिकार दिया कि लगान नहीं अदायगी की स्थिति में किसी अदालत की अनुमति के बिना भी असामियों की संपत्ति जब्त कर सकते थे। जमींदारों की बेलगाम ताकत से काश्तकारों की हालत बिगड़ी थी।”<sup>10</sup> स्थायी बंदोबस्त की व्यवस्था का असर बंगाल बिहार उड़ीसा में ज्यादा स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ता है। यह व्यवस्था पुरानी भू-स्वामित्व व्यवस्था की निरंतरता में देखी जा सकती है। इस भू-भाग के क्षेत्र में राजा, जमींदार, सामंतों का ज्यादा दबदबा देखा गया था। यहां भूपति राजा को ही माना जाता था। अंग्रेजों ने भी 1757 के प्लासी के युद्ध में बंगाल के नवाब को हराकर बंगाल पर कब्जा किया था। बंगाल में भूमि के स्वामित्व को लेकर जैसी परंपरा और चेतना थी, उसी परंपरा और किसानों की चेतना के अनुरूप अंग्रेजों ने इस नई व्यवस्था को ईजाद किया था। इस व्यवस्था का प्रभाव और जमींदारों के अधिकार ग्रामीण क्षेत्रों में 1930 ईस्वी तक साफ़ देखे जा सकते थे।

रैयतवारी व्यवस्था के भू-स्वामित्व में रैयत और राज्य दोनों ही अपनी-अपनी तरह से भूमि पर स्वामित्व समझते थे। इस व्यवस्था में किसी भी प्रकार के परजीवी बिचौलियों या मध्यवर्ती लोगों के लिए कोई स्थान नहीं था। रैयत का सरकार के साथ सीधा संबंध था, दरअसल यह संबंध अंग्रेजी व्यवस्था और किसानों के बीच में होता था। “इस व्यवस्था का एक-एक क्षेत्र मद्रास, मुंबई, सूरत, गुजरात में था। इसमें किसान को जमीन 30 साल के लिए दी जाती थी। जमीन की उर्वरा के अनुसार राजस्व होता था पर यह राजस्व 30 साल तक एक सा ही रहता था। पर फसल



कीमतें बीच में कम हो जाती थी, पर तय लागन रैयत को देना ही पड़ता था। जिससे किसानों को बहुत नुकसान भी उठाना पड़ता था। किसान के साथ सरकार ने करार किया है पर किसान उस जमीन को बटाई पर दे देता था। बाद में पूर्व सूचना देकर खेती करना ही छोड़ देता था ऐसे में करार वाले किसान सरकार और किसान के बीच बिचौलियों का काम करते थे। यह व्यवस्था भारत में 1935 ईस्वी तक देखी जा सकती है।<sup>11</sup>

इस बंदोबस्ती की व्याख्या करते हुए महालवाड़ी प्रथा के बारे में गिरीश मिश्र आगे बताते हैं, “राजस्व वसूली के लिए अंग्रेजों ने महालवाड़ी प्रणाली को अपनाया था। इस प्रणाली को हम भूमि पर सामूहिक समिति के रूप में देख सकते हैं। जैसे प्राचीन और मध्यकाल में भूमि पर कबीला समूह का स्वामित्व होता था। इस प्रणाली को हम उस आधार पर समझ सकते हैं। यह भूराजस्व प्रणाली “बंदोबस्ती पर पूरे महल (गांव) के साथ की गई। गांव के सह-भागीदारी समूह को भू-स्वामी माना गया और उसे भूस्वामी के भुगतान के लिए जिम्मेदार बनाया गया। प्रत्येक गांव या प्रत्येक पट्टी अथवा हिस्से के लिए नीचे एक नामी और प्रतिष्ठा संपन्न भागीदारी ने मूल दायित्व लिया और उसने सारी समूह की ओर से राजस्व-आबन्ध पर हस्ताक्षर किया। ऐसे व्यक्ति को नंबरदार कहा गया।”<sup>12</sup>

औपनिवेशिक शासन व्यवस्था के मजबूत होने से किसानों पर जोर जुल्म भी बढ़ गया। उपनिवेशी व्यवस्था की नीतियां, संस्थाएं और कानूनों ने किसानों की हालत को बदतर कर दिया। पहले राजस्व वसूली के अलग-अलग तरीके अपना कर किसानों का बेहताशा शोषण किया गया। बिहार में इस उपनिवेश नीति का खुले तौर पर किसान प्रतिरोध भी करते थे, जिसे हम 1859-1860 का नील विद्रोह रूप में जानते हैं। किसान में नीलहे खेती करवाने वाले अंग्रेजों के एजेंटों पर भयंकर आक्रोश रहता था। नीलहे साहबों के एजेंटों ने किसानों को नील बोने पर मजबूर करने की कोशिश की तो उनका बड़ा प्रतिरोध हुआ। उनके भारतीय कारिंदों का भी संगठित सामाजिक बहिष्कार हुआ।<sup>13</sup>

19वीं और 20वीं शताब्दी के मध्य भारत में जितने भी किसान संघर्ष हुए उनके पीछे इन नीतियों को ही जिम्मेदार ठहराया जा सकता है। यह प्रश्न गौर करने लायक है कि स्वराज्य की मांग का मतलब क्या था? क्या औपनिवेशिक शासन से मुक्ति का तात्पर्य सिर्फ देश से गोरे लोगों को निकाल देना होता है? अगर राष्ट्रवादी मांग का कुल सारांश इतना भर होता तो शायद अंग्रेज इसे बहुत पहले ही मान गए होते। वास्तव में स्वराज की धारणा में व्यक्तिगत स्वतंत्रता, समानता और न्याय के आदर्श तथा राष्ट्रीय विकास और इसके परिणाम स्वरूप व्यक्तिगत विकास की आशा निहित थी। पर यह भारतीय मोर्चा इन मूल्यों को स्थापित करने में विफल रहा। अवध किसान आंदोलन पर अंग्रेजी व्यवस्था और तालुकदार ने मिलकर हिंसक दमन किया। सैकड़ों किसानों की हत्या कर दी गई थी। कांग्रेस ने भी स्वाधीनता आंदोलन के लिए इन छोटे किसान मजदूर आंदोलनों का भटकाव किया था। लेकिन अंत में वे इसी नतीजे पर पहुंचे कि अगर किसानों के संघर्ष को जारी रहने दिया गया तो यह अंग्रेजी राज के खिलाफ राष्ट्रीय आंदोलन के विकास में एक रुकावट बन जाएगा। एक ‘ज्यादा बड़े संघर्ष’ के हित में और ‘राष्ट्रीय एकता’ की जरूरत के लिए इस तरह के आंशिक और वर्गीय-संघर्ष को कुछ समय के लिए ताक पर रख छोड़ना होगा। यह तर्क काफी शक्तिशाली प्रतीत होता है और हाल में कुछ इतिहासकारों ने इसे पूरी तरह से मान भी लिया है। ऐसा उन्होंने किस आधार पर किया, इसकी बारीकी से जांच करने की जरूरत है। क्या किसान वर्गीय संघर्ष छोड़कर स्वाधीन हो पायेंगे?





अगर वह वर्गीय हित साम्राज्यवाद और सामंतवाद खिलाफ एक साथ चलता तो आज हम वास्तविक रूप में स्वाधीन हो सकते थे।

### निष्कर्ष

वर्तमान कृषि व्यवस्था के संरचना के तत्व इसकी ऐतिहासिकता से गहरे रूप से प्रभावित है। वर्तमान समय के कृषि व्यवस्था के संस्थागत नीतिगत अंतर्विरोध पूर्ववर्ती व्यवस्था कि देन हैं। बहले ही आज के स्वतंत्र भारत में कृषि अर्थव्यवस्था के सुधार के लिए तमाम नीतिगत संरचनागत व तकनीकीयुक्त प्रयास परिवर्तन किए जा रहे हैं किन्तु नव-उदारवाद कि नीतियाँ नए रूप में कृषि व्यवस्था को नुकसान ही होता दिख रहा है।

जिस प्रकार नकदी फसल से तात्कालिक लाभ के लालच ने दूरगामी प्रकृतिक नुकसान व किसानों के संभावित शोषण को पहचानने नहीं दिया उसी तरह स्वतंत्र देश में उपनिवेशवाद नव-उदारवाद का रूप धरण कर किसानों व्यवस्था को ही नुकसान पहुंचाने वाला साबित हो रहा है। नव-उदारवादी अर्थव्यवस्था कि नीतियों के समुचित आकलन के लिए तुलनात्मक ऐतिहासिक दृष्टि उपयोगी है।

### संदर्भ

- <sup>1</sup> मार्क्स एंगेल्स कम्युनिस्ट घोषणापत्र
- <sup>2</sup> डी.डी. कोशाम्बी: ऑन अ मार्क्सिस्ट एप्रोच टू इंडियन क्रोनोलॉजी, पृष्ठ संख्या 258-66
- <sup>3</sup> वही से, पृष्ठ संख्या 121
- <sup>4</sup> आर.एस. शर्मा: प्राचीन भारत में राजनितिक विचार एवं संस्थाएं, पृष्ठ संख्या 303
- <sup>5</sup> सतीशचंद्र (अनुवादक) नरेश नदीम: मध्यकालीन भारत: राजनीतिक समाज और संस्कृति आठवीं से सत्रहवीं सदी तक, पृष्ठ संख्या 38
- <sup>6</sup> सतीशचंद्र (अनुवादक) नरेश नदीम: मध्यकालीन भारत: राजनीतिक समाज और संस्कृति आठवीं से सत्रहवीं सदी तक, पृष्ठ संख्या 38
- <sup>7</sup> इरफ़ान हबीब: मध्यकालीन भारत का आर्थिक इतिहास: एक सर्वेक्षण, पृष्ठ संख्या 45
- <sup>8</sup> सतीशचंद्र: मध्यकालीन भारत, पृष्ठ संख्या 291-92
- <sup>9</sup> शेखर बंदोपाध्याय (अनुवाद) नरेश नदीम: प्लासी से विभाजन तक आधुनिक भारत का इतिहास, पृष्ठ संख्या 92-93
- <sup>10</sup> शेखर बंदोपाध्याय (अनुवाद) नरेश नदीम: प्लासी से विभाजन तक आधुनिक भारत का इतिहास, पृष्ठ संख्या 92
- <sup>11</sup> गिरीश मिश्र: आधुनिक भारत का आर्थिक इतिहास, पृष्ठ संख्या 152
- <sup>12</sup> वही से, पृष्ठ संख्या 152-53
- <sup>13</sup> शेखर बंदोपाध्याय (अनुवाद) नरेश नदीम: प्लासी से विभाजन तक आधुनिक भारत का इतिहास, पृष्ठ संख्या 210-12